1857 के महाविद्रोह की पृष्ठभूमि और हिंदी सिनेमा

कृष्ण मोहन

ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ 1857 का महाविद्रोह कंपनी के भारतीय सैनिकों ने किया था। जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे। इन सैनिकों ने 12 मई 1857 को मुगल बादशाह बहादुर शाह जफ़र को अपना शासक घोषित किया था। इस महाविद्रोह से उपजी हिंदू–मुस्लिम एकता ने ईस्ट इंडिया कंपनी की नींद उड़ा दी। यह ब्रिटिश ईस्ट इंडिया के खिलाफ संगठित प्रतिरोध की पहली अभिव्यक्ति थी, जिसमें कंपनी के सेना के साथ व्यापक जनता की भागीदारी भी शामिल थी। इस विद्रोह से अंग्रेज़ समझ गए थे, कि इस देश में शासन करना है तो उन्हें हिंदू और मुस्लिम के बीच नफरत और अविश्वास की दीवार खड़ी करनी होगी। इसलिए अंगेजी इतिहासकारों ने हिंदुस्तान के इतिहास की एक ऐसी व्याख्या करनी शुरू कर दी जिसमें हिंदुओं को यह बताया गया कि मुसलमान वह कौम है, जिसने तुम्हारे धार्मिक स्थलों को न सिर्फ तोड़ा बल्कि उसने हजारों साल तक शासन करते हुए हिंदू स्त्रियों का अपमान और शोषण किया है। तो वही मुस्लिम नेताओं और समुदायों को यह समझाया गया कि अगर अंग्रेज़ यहाँ से चले गये तो उन्हें हिंदुओं के वर्चस्व में दोयम दर्जे का नागरिक बना दिया जाएगा। मतलब हिंदू मुसलमानों को गुलाम बनाकर रखेंगे। अंग्रेज़ अपने चाल में कामयाब भी रहे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध या 1980 के बाद से देश के विभिन्न हिस्सों में छिटपुट सांप्रदायिक दंगों की सूचना मिलने लगी थी। यह छिटपुट दंगों की कीमत यह रही कि 1947 में देश का विभाजन हो गया।

हिन्दी सिनेमा अपने प्रारम्भिक दिनों से ही भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न भाषायी समुदायों कि सामूहिक इच्छाओं और आकांक्षाओं का सिनेमा रहा है। हिंदी सिनेमा के विकास में विभिन्न भाषायी समुदायों का योगदान रहा है। हिंदी अपने हिंदुस्तानी रूप में एक संपर्क भाषा के रूप में विकसित हुई है। यही कारण है कि जब भी कोई फ़िल्मकार अपनी बात इस उपमहाद्वीप के लोगों तक पहुंचाना चाहता है, उनकी समूहिक चेतना को संबोधित करना चाहता है तो उसे हिंदी सिनेमा को माध्यम बनाना पड़ता है। 1857 हिंदूस्तान की आजादी का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है फिर भी हिंदी सिनेमा में 1857 के महाविद्रोह पर बहुत ही कम फिल्में बनी है। ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों पर फिल्म बनाना एक चुनौतिपूर्ण काम है। इतिहास की घटनाएँ ठीक उसी रूप में नहीं घटती जिस रूप में फिल्म में घटनाएँ प्रस्तुत की जाती है। ऐतिहासिक घटनाओं को फिल्म में प्रस्तुत करते हुए इस बात

का ध्यान रखना पड़ता है कि सिर्फ वे ही घटनाएँ पेश कि जाए जिसमें न केवल क्रमबद्धता हो बल्कि उनमें नाटकीय उतार–चढ़ाव कि भी संभावना हो। इस दिशा में निम्नलिखित प्रमुख फ़िल्मकारों द्वारा निर्देशित फिल्मों का उल्लेख किया जा सकता है। जिसमें सोहराब मोदी (झाँसी की रानी), सत्यजित रे (शतरंज के खिलाड़ी), केतन मेहता (मंगल पांडे: दि राइजिंग), श्याम बेनेगल (जुनून) प्रमुख फिल्म है।

सोहराब मोदी की 6 जनवरी 1953 में रिलीज फिल्म 'झाँसी की रानी' राष्ट्रवादी भावना से बनाई गई थी। उस समय तक 1857 के महाविद्रोह और झाँसी की रानी से संबंधित उपलब्ध तथ्यों के अनुरूप यह फिल्म काफी हद तक इतिहास के प्रति ईमानदार रहते हुए बनाई गई थी। सोहराब मोदी की सबसे महत्वाकांक्षी ऐतिहासिक फिल्म जिसे उन्होने टेक्निकलर में बनाया था। यह मोदी की सबसे कम नाटकीयता से ओतप्रोत ऐतिहासिक फिल्म है। लेकिन मोदी का दुर्भाग्य यह है कियाही उयनकी एकमात्र असफल ऐतिहासिक फिल्म है। इसकी असफलता का कारण यह था कि 'झाँसी कि रानी' कि भूमिका में मोदी की पत्नी मेहताब और राजगुरु की भूमिका स्वयं सोहराब मोदी अपने अपने किरदार को जीवंत नहीं कर सके। इस फिल्म की कहानी 1857 ई. के विद्रोह की आग में सुलग रहे भारत के झाँसी रजवाड़े की है। जिसे अंग्रेज़ किसी भी कीमत पर हड़पने के लिए आमादा है। राजगुरु (सोहराब मोदी) का फैसला है कि झाँसी को इतिहास में इसकी उचित मान्यता मिलनी चाहिए इसलिए किसी के अधीन नहीं रह सकते। वह एक युवा लड़की मनु को राजगद्दी संभालने के तौर–तरीके सिखाते हैं। मनु के पिता को अंग्रेजों ने चालाकी से मार दिया था। वह अंग्रेजों से मुक़ाबला करने के लिए कुछ बच्चों को इकट्ठा करती है। मनु अपनी कार्य–क्षमता से राजगुरु को प्रभावित करती है। राजगुरु झाँसी के बड़े शासक गंगाधर राव (मुबारक) से मनु का विवाह करा देते हैं और वह झाँसी कि रानी बन जाती हैं। विवाह के उपरांत भी रानी राजगुरु से शारीरिक लड़ाई, राजनीतिक प्रशासन और युद्ध कौशल सीखती हैं। कुछ महीनों के बाद रानी एक मृत लड़के को जन्म देती हैं। राजगुरु कि सलाह मान झाँसी को अंग्रेजों के अधीन जाने से बचाने के लिए लक्ष्मीबाई एक लड़के दामोदर राव को गोद ले लेती हैं। जिसे अंग्रेज़ रियासत के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार करने से इंकार कर देते है। यही से वो जंग शुरू होता है जिसमें रानी लक्ष्मीबाई अपनी झाँसी को बचाते हुए वीरगति को प्राप्त होती हैं।

इस फिल्म को हॉलीवुड के रुसेल लॉय्ड ने एडिट किया था। इस फिल्म को बनाने में मिनर्वा मूवीटोन ने काफी पैसा खर्च किया था। अधिकतर साजो समान विदेशों से मंगवाया गया था। हॉलीवुड के टेक्निशियन ने युद्ध

के दृश्यों को सजीव कर दिया था। इस भव्य और ऐतिहासिक फिल्म बनाने का खामियाजा सोहराब मोदी को भुगतना पड़ा फिल्म को प्रेस कि प्रशंसा तो मिली लेकिन बॉक्स ऑफिस पर चल नहीं पाई। सोहराब मोदी वित्तीय संकट में फंस गए। फिल्म के न चलने के लिए फिल्म समीक्षक मेहताब को अधिक दोषी मानते हैं। जिनको सोहराब मोदी ने रानी लक्ष्मीबाई के रोल के लिए चुना जिनकी उम्र उस समय 40 वर्ष के करीब था। फिल्म में चरित्र और मेहताब की उम्र का फर्क इस रंगीन फिल्म में छुप नहीं सका और वो रानी लक्ष्मीबाई के मुख्य रोल में फिट नहीं बैठी। फिर भी यह फिल्म लक्ष्मीबाई के शौर्य और बलिदान, हिंदू–मुस्लिम एकता और अंग्रेजों के विरुद्ध उनके सामूहिक संघर्ष का प्रभावशाली ढंग से चित्रण करने में कामयाब रही। फिल्म की सीमा यह है कि एक स्त्री के रूप में लक्ष्मीबाई की आंतरिक वेदना और संघर्ष को बिल्कुल नहीं छूती। एक बूढ़े आदमी गंगाधर राव से विवाह और युवावस्था में कदम रखते ही विधवा हो जाने की पीड़ा को फिल्म की कहानी का हिस्सा नहीं बनाया गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि लक्ष्मीबाई का विवाह बचपन में ही बुढ़ापे कि तरफ कदम बढ़ाते गंगाधर राव से कर दी गयी थी समकालीन दृष्टि से विचार करें तो इसे किसी स्त्री पर बहुत बड़ा अत्याचार ही कहा जाएगा। लेकिन सोहराब मोदी इस अमानवीय कृत्य को देशभक्ति की भावना के बरक्स महिमामंडित करने का प्रयास करते हैं। देशभक्ति की इसी भावना के कारण यह कुकृत्य न केवल फिल्म में सुकृत्य बन जाता है, बल्कि यह उन ऐतिहासिक तथ्यों पर भी पर्दा डालने का काम करता है जो यह बताते हैं कि लक्ष्मीबाई का वैवाहिक जीवन सुखद नहीं था।

'शतरंज के खिलाड़ी' 1977 ई. में बनी हिंदी भाषा की फिल्म है। यह फिल्म हिंदी कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद द्वारा लिखी गई कहानी 'शतरंज की खिलाड़ी' पर आधारित है। इस फिल्म के निर्देशक प्रसिद्ध बांग्ला फिल्मकार सत्यजित रे थे । इस फिल्म की कहानी 1856 ई. के अवध नवाब वाजिद अली शाह के दो जागीरदार के इर्द–गिर्द घूमती है। ये दोनों जगीरदार शतरंज खेलने में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपने शासन तथा परिवार की भी फ़िक्र नहीं रहती। 'शतरंज के खिलाड़ी' सत्यजीत रे द्वारा निर्देशित पहली गैर बंगाली भाषा की फिल्म थी। फिल्म 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से एक साल पहले की पृष्ठभूमि पर है। जब ईस्ट इंडिया कंपनी अपनी उपनिवेशवाद नीति के तहत विभिन्न भारतीय साम्राज्य और राजाओं को सीधे अपने अधीन कर रही थी। अवध (लखनऊ) का साम्राज्य सबसे आखिर में कंपनी के अधीन आने वाले राज्यों में से एक था। अवध के तात्कालीन बादशाह वाजिद अली शाह (अमजद खान) है जिसे कम्पनी राजगद्दी से हटाने की योजना बना रही है, और बादशाह प्रशासन से दूर अपनी कला के प्रदर्शन और विलासता में डूबा हुआ है। कम्पनी इस सत्ता

परिवर्तन के लिए एक वैध रास्ता अपनाना चाहती है, जिसके लिए वो एक नया सन्धि पत्र तैयार करती है, जिस पर उसे बादशाह के दस्तखत चाहिए। इन सभी राजनैतिक उथल–पुथल के बीच नवाब के अधीन बैठे दो जागीरदार मिर्ज़ा सज्जाद अली (संजीव कुमार) और मिर्ज़ा रोशन अली (सईद जाफरी) जिनके ऊपर अवध की रक्षा का जिम्मा भी है, अपने अंतहीन शतरंज के खेल में लगे हुए हैं। यहाँ तक की खेल की वजह से जहा मिर्ज़ा सज्जाद अली अपनी पत्नी खुर्शीद (शबाना आज़मी) से बेपरवाह हैं, वही मिर्ज़ा रोशन अली अपनी पत्नी नफीसा (फरीदा ज़लाल) के अपने ही दूर के रिश्तेदार अकील (फारुख शेख) के प्रति आकर्षित होने को नज़र अंदाज़ किये हुए हैं। दोनों ही खिलाड़ी इस बात से अनजान है कि अंग्रेज न सिर्फ शतरंज भी दूसरे तरीके से खेलते हैं, बल्कि उनकी राजनीतिक चालें भी अलग अलग हैं। अंग्रेज रेसिडेंट जेम्स ओउट्राम (रिचर्ड एटनबरो) बड़ी चतुराई से बादशाह के कला प्रेम को विलासता का रूप देकर उसे अयोग्य साबित करता है और उसे हटाये जाने के लिए एक नयी संधि बनाता है। दूसरी तरफ अहंकार से भरे हुए दोनों शतरंज के खिलाड़ी घरवालों की वजह से अपने खेल में आ रहे व्यवधान से तंग आकर और अवध की रक्षा के लिए कदम उठाने की संभावना से भाग कर लखनऊ से दूर एक गाँव में जाकर खेलने की योजना बनाते है इस सच को नज़रंदाज़ करके कि अंग्रेजी सेना कभी अवध पर अपनी सत्ता जमा सकती है। किसी भी ऐतिहासिक फिल्म की पटकथा की खूबी इस बात पर निर्भर करती है, कि तथ्यों को तोडा मरोड़ा ना जाए और ये बात तब और मुश्किल हो जाती है जब उन्ही तथ्यों के साथ निर्देशक आम धारणा के विपरीत दूसरे पहलू को भी सामने रख पाने में सफल हो। नवाब वाजिद अली शाह के लिए आम धारणा ये है की वो एक सिर्फ विलासी और अयोग्य राजा था, लेकिन इस फिल्म में भी निर्देशक तथ्यों को बिना तोड़े मरोड़े, नवाब वाजिद अली शाह को अपनी बात कहने का मौका देता है और आप नवाब की बातो से इत्तेफाक भी रखेंगे। दूसरी तरफ अंग्रेज रेसिडेंट भी अपनी जगह सही है, और वो किसी भी राजा, जो दरबार से ज्यादा कला में रूचि रखता हो, को राज गद्दी से हटाना, ब्रिटिश राज के प्रति अपना कर्तव्य समझता है, वही दोनों शतरंज के खिलाड़ियों की कहानी प्रतीकात्मक होकर भी मुख्य कहानी की तरह आगे बढती है।

फिल्म निर्देशक ने उस वक्त के उत्तरदायी व्यक्तियों के उदासीन और विलासी होना दोनों खिलाड़ियों के माध्यम से ही दिखाया है। दोनों ही जागीरदारों के बीच के संवाद आप को तात्कालीन राजनैतिक स्थिति से अवगत कराते हैं। दोनों ही जागीरदारो के बीच के संवादों में अच्छा व्यंग्य है। फिल्म का संगीत सत्यजीत रे ने ही दिया है। फिल्म में संगीत के नाम पर एक ठुमरी है "कान्हा मैं तोसे हारी" जो न सिर्फ कर्णप्रिय है, बल्कि दर्शनीय

भी है। जिसे बिरजू महाराज ने स्वयं गाया भी है और नृत्य निर्देशित भी किया है। फिल्म का कला निर्देशन और वेशभूषा काफी सटीक है और ये आप को 1856 में ले जाने में सफल होते हैं।

'जुनून' (1978) ई. फिल्म का निर्माण श्याम बेनेगल ने भारत के अंग्रेजी लेखक रस्किन बांड के उपन्यास 'ए फ्लाइट ऑफ पिजन्स' को आधार बनाकर किया था। 'जुनून' फिल्म के लगभग सारे मुख्य पात्र काल्पनिक हैं, लेकिन 1857 ई. का घटनाक्रम पूरी तरह से ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है, खासतौर पर रूहेलखण्ड के इलाके में जो घटनाएँ 1857 ई. के दौरान घटी थीं, उसको ध्यान में रखते हुए फिल्म का निर्माण किया गया है। खास बात यह है कि उपन्यासकार ने विद्रोह कि घटनाओं का उल्लेख बहुत संक्षेप में और अंग्रेजों कि क्रूरता का उल्लेख किए बिना किया है, जबकि इसी उपन्यास पर बनी फिल्म में इस महाविद्रोह के दौरान अंग्रेजों द्वारा किसान जनता पर किए गए अत्याचारों को भी चित्रित किया गया है। यही नहीं, उपन्यास के विपरीत फिल्म में महाविद्रोह पृष्ठभूमि के रूप में नहीं, बल्कि कथा के केंद्र में मौजूद है। उपन्यास में कहानी रूथ (नसीफा अली) के माध्यम से कही गई है। रूथ पूरी कहानी निरपेक्ष भाव से सुनती है जबकि फिल्म में क्रांति की उत्तेजना को फिल्म के आरंभ से ही महसूस किया जा सकता है। उपन्यास के विपरीत फिल्म जावेद खान (शशि कपूर) के प्रेम के जुनून की ही कहानी नहीं कहती बल्कि आजादी के लिए संघर्ष करने वाले वीरों की कहानी भी कहती है। फिल्म का नाम इस रूप में रूप में 'जुनून' रखा जाना काफी महत्वपूर्ण है। यह जावेद खान के प्रेम का जुनून भी है और सरफराज खान (नसीरुद्दीन शाह) और उन जैसे भारतीयों का अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का जुनून भी है। जावेद खान का चरित्र उपन्यास और फिल्म में अलग–अलग ढंग से दिखाया गया है। उपन्यास के आरंभ में ही जावेद खान का परिचय देते हुए उसे अपराधी बताया गया है जबकि फिल्म में जावेद खान एक ऊंचे खानदान का पठान है जो रूथ से प्यार करता है और किसी भी कीमत पर उसे हासिल करना चाहता है।

फ़िल्मकार ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में जावेद खान की भूमिका को पूरा महत्व दिया है। लेकिन सरफराज खान से उसकी भिन्नता इस रूप में व्यक्त होती है, कि जहां सरफराज खान आरंभ से ही विद्रोह में शामिल होता है और विद्रोहियों कि तरफ से लड़ने के लिए दिल्ली तक जाता है, वहीं जावेद खान आरंभ में तो विद्रोह में शामिल होता है लेकिन बाद में रूथ को हासिल करने कि कोशिश में जुट जाता है। सरफराज खान उसके इस जुनून को उचित नहीं मानता है। उसके लिए अंग्रेजों को भारत की सरजमीं से निकालने के अलावा कोई और जुनून सवार नहीं था। उसके लिए सभी अंग्रेज़ उसके दुश्मन हैं, यहाँ तक जिन औरतों को जावेद खान ने अपने घर में पनाह दे रखी है वे भी। उपन्यास में सरफराज खान कभी भी महत्वपूर्ण चरित्र के रूप में सामने नहीं आता है। जबकि फिल्म में सरफराज खान 1857 ई. के महाविद्रोह के एक वीर नायक के रूप में सामने आता है। फिल्म में जावेद खान के प्रति रूथ में प्रेम भाव न केवल पनपता है बल्कि वह व्यक्त भी होता है। फिल्म

के अंत में जावेद खान अंग्रेजों के साथ लड़ते हुए मारा जाता है। लेकिन रूथ की कहानी यहीं खत्म नहीं होती है। फिल्म में दर्शकों को नेरेटर के द्वारा बताया जाता है कि रूथ अपने वतन इंग्लैंड चली गई लेकिन वह जिंदगी भर कुंवारी बनी रही। फिल्मकार जावेद और रूथ की प्रेम कहानी को एक त्रासद अंत देता है। दर्शक फिल्म के अंत में एक असफल विद्रोह और एक असफल प्रेमकथा के दुखद अंत का एहसास लेकर सिनेमा घर सी निकलता है।

2005 ई. में केतन मेहता ने स्वतन्त्रता संग्राम के पहले सिपाही मंगल पांडे (आमिर खान) की जीवन गाथा पर बेहद ही महत्वपूर्ण फिल्म बनाई। केतन मेहता ने फिल्म बनाते हुए अपने को उस मंगल पांडे तक सीमित नहीं रखा जिसके बारे में बहुत ही सीमित जानकारी उपल्ब्ध है। बल्कि उन्होने उसे 1857 ई. के महाविद्रोह की चिनगारी के रूप में ग्रहण किया है। इसलिए उन्होंने व्यक्ति मंगल पांडे के बजाए एक सामूहिक चेतना को अपना नायक बनाया जो मंगल पांडे के व्यक्तिगत विद्रोह के पीछे मौजूद थी। 'मंगल पांडे : दि राइजिंग' 1857 ई. से जुड़े उन सभी कारणों की पड़ताल करती है जो इतिहासकारों द्वारा पेश किया गया था। इसमें गाय की और सूअर और गाय की चर्बी वाले कारतूसों का इस्तेमाल और भारत के लोगों को जबरन ईसाई बनाने की कोशिश शामिल है। इन दो कारणों के अलावा तीसरा कारण भारत के सामंती शासकों द्वारा गोद लेने की प्रथा है। इन तीनों को मुख्य कारण के रूप में पेश कर इतिहासकर यह साबित करना चाहते रहे हैं कि 1857 का विद्रोह प्रतिक्रियावादी ताकतों का विद्रोह था और उनका कुचला जाना भारत के लिए हितकर है। फ़िल्मकार यह स्वीकार करते हैं कि फिल्म को नाटकीय रूप देने के लिए 'वास्तविक घटनाओं' में आवश्यकतानुसार कुछ बदलाव और कुछ कल्पित पात्रों एवं प्रसंगों की रचना की गई है। जैसे– तवायफ हीरा (रानी मुखर्जी) का प्रसंग और चरित्र। फिल्म में मंगल पांडे को फांसी लग जाने के बाद अंग्रेजों के साथ लड़ाई के दृश्यों में हम उसी हीरा को 'झाँसी की रानी' की तरह तलवार लिए अंग्रेजों से लड़ते हुए देखते हैं। हीरा का मंगल पांडे की कहानी में समावेश कई दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हीरा के बहाने अंग्रेजों के राज में गोरे सैनिकों और अधिकारियों के दिलबहलाव के लिए भारतीय स्त्रियों का इस्तेमाल किया जाता था। इसलिए अंग्रेज़ छावनियों के नजदीक वेश्याओं के मोहल्ले आबाद हो जाते थे। फिल्म में मंगल पांडे और गोर्डन के बीच कुश्ती का दृश्य दिखाया गया है। फिल्म में गोर्डन और मंगल पांडे की दोस्ती को कहानी का हिस्सा बनाया जाना, इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इससे अंग्रेजों और भारतीयों के बीच के संघर्ष को नस्लवादी और संप्रदायिक नजरिए से देखने से बचाने का सजग प्रयत्न किया गया है। फिल्म में उस समय बंगाल में समाज सुधार कि कोशिशों को भी कहानी का भाग बनाया गया है। गोर्डन सती कि जा रही स्त्री ज्वाला (अमीषा पटेल) को बचाने का प्रयास करता है। मंगल पांडे पहले तो उसे रोकता है लेकिन बाद में वह गोर्डन कि रक्षा में आगे आ

जाता है। इसी तरह जब उसे मालूम पड़ता है कि उसने चर्बी लगे कारतूस का इस्तेमाल किया है तो ग्लानि से भर जाता है। वह अपने साथियों को कहता है, "न कोई मुझे छूएगा, न मेरा छुआ खाएगा। न मेरी चिता में कोई आग लगाएगा। आज से मैं अछूत हूँ, अछूत हूँ"। लेकिन उनके साथी उनका बहिष्कार करने कि बजाए उसका साथ देने का वादा करते हैं: "अगर आप अछूत हैं तो हम भी अछूत हैं। अनजाने में की गई गलती कोई गुनाह नहीं होती"।

फ़िल्मकार ने मंगल पाण्डे को सामंतशाही के समर्थक के रूप में नहीं बल्कि उसके आलोचक के रूप में प्रस्तुत किया है। अजीमुल्ला खाँ और तात्या टोपे के साथ होने वाली बैठक में मंगल पांडे के मुख से कहलाया गया कि इस विद्रोह के बाद हम नहीं चाहते कि देश फिर छोटे–छोटे सामंतों के हाथों में चला जाए और वे आपस में लड़ते रहें और जनता की चिंता बिल्कुल भी न करें। इसके लिए मंगल पांडे और उनके ही ये सुझाव देते हैं कि विद्रोह के नेता मुगल बादशाह बहादुरशाह जफ़र होंगे। केतन मेहता ने फिल्म बनाते हुए उस मंगल पांडे को अपना नायक रूपी प्रतिमा नहीं बनाया था। बल्कि एक अच्छे फ़िल्मकार के लिए यह मुमकिन ही नहीं था कि वह मंगल पांडे कि प्रतिमा गढ़ते हुए इतिहास को भुला दे। मंगल पांडे कि प्रतिमा इसी इतिहास के ईंट–गारे से ही बन सकती थी। लेकिन इस प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा इतिहास से नहीं, बल्कि वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता के द्वारा ही संभव थी।

'झाँसी की रानी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'जुनून', 'मंगल पांडे: दि राइजिंग' फिल्म वर्तमान की हमारी चुनौतियों, जिसमें हिन्दू–मुस्लिम एकता के साथ मिली–जुली–साझी संस्कृति को बचाने की बचाने की कवायद में शामिल है। ये फिल्में 1857 ई. के महाविद्रोह को आजादी की पहली लड़ाई के परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए प्रेरित भी करतीं है। साथ– साथ ही साथ ये चारों फिल्में भूमंडलीकरण के इस दौर में साम्राज्यवाद की ओर से आने वाली चुनौतियों से हमें आगाह भी करती हैं।

आधार फिल्में

1. झाँसी की रानी (1953) सोहराब मोदी
2. शतरंज के खिलाड़ी (1977) सत्यजीत राय
3. जुनून (1978) श्याम बेनेगल
4. मंगल पांडे: दि राइजिंग' (2005) केतन मेहता

कृष्ण मोहन, शोधार्थी–हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, जम्मू केंद्रीय विश्वविद्यालय, सांबा

मो. 7355547462 Gmail: krishanmohan158@gmail.com